ॐ

आर्य समाज

और

विचार-संसार

श्री पं० चमूपति जी एम. ए.

मुख्याधिष्ठाता

गुरुकुल काङ्गड़ी

प्रारम्भिक शब्द

लाहौर (बच्छोवाली) आर्यसमाज के मन्त्री महोदय का आग्रह है कि मैं उनके समाज के वार्षिक उत्सव के अवसर पर दिये गये अपने व्याख्यान को लेख-बद्ध कर दूं। मैं आगामी पृष्ठों में जीती जागती ज़बान का स्थान निर्जीव लेखनी को देने का—जहां तक ऐसा करना सम्भव है—प्रयत्न करूंगा।

विचार-संसार में आर्यसमाज कहीं अपने नाम से और कहीं बिना नाम के, केवल विचारों द्वारा प्रतिष्ठित हो रहा है। इस विषय पर आर्य समाज की वेदि से मैं अनेक व्याख्यान दे चुका हूं। आज इस विषय की कुछ नई सामग्री उपस्थित करने लगा हूं। आशा है, श्रोतृ-वृन्द—लिखे हुए व्याख्यान के पाठक भी वास्तव में श्रोता ही होते हैं—इस से उचित लाभ उठायेंगे।

गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार

चमूपति

॥ ओ३म् ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुण-
स्याग्नेः, आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष
थं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।

ऋ० १. ११५. १

अहा ! ज्योति के पुतलों की सेना प्रकट हुई है ! स्नेह, आकर्षण और प्रकाश ने आंख खोली है।

सूर्य जो स्थावर और जंगम का आत्मा है, द्यौः, पृथिवी और अंतरिक्ष में परिपूर्ण हो रहा है। अहा ! क्या विचित्र चित्र है।

॥ ओ३म् ॥

देवियो और भद्रपुरुषो !

नीहारिकावाद (Nebular Theory)

और

उपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि के प्रकरण में एक आख्यायिका आई है जिस के प्रारंभिक शब्द ये हैं :—

आदित्यो ब्रह्म, इत्यादेशः, तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत्, तत्सदासीत्, तत्समभवत्, तत् आण्डं निरवर्त्तत, तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत, तत् निरभिद्यत, ते आण्डकपाले रजतं सुवर्णं चाभवताम् ।१। तत् यद्रजत ७ं सेयं पृथिवी यत्सुवर्ण ७ं सा द्यौः ॥ २ ॥

छान्दोग्य ३. १९ ।

अर्थात् सूर्य प्रकृति है-यह मूल मन्त्र है। इस की व्याख्या यह है कि यह (संसार आरम्भ में) नहीं था। वह (कारण अवस्था में) था। वह कार्य-अवस्था में आया। वह अण्डाकार हो गया, वह एक संवत्सर की अवधि तक ऐसा रहा। तब वह टूट गया। अण्डे के दो भाग होगये— एक चांदी का (श्वेत), एक सोने का (पीला)। जो चांदी का हिस्सा था वह पृथिवी बन गया और जो सुनहरी हिस्सा था वह सूर्य हुआ।

एक मौलाना महानुभाव ने इस आख्यायिका के सबन्ध में मज़ाक़ उड़ाते हुए लिखा है:—"यह उपनिषदों की फ़िलासफ़ी है !"

ऊपर ऊपर से देखने से कथा में कुछ सार प्रतीत नहीं होता, परन्तु ज़रा गहरी दृष्टि से देखा जाय तो इस आख्ययिका में विज्ञान की एक ऐसी स्थापना का वर्णन किया गया है जिस का वर्तमान वैज्ञानिकों ने अभी १८ वीं शताब्दी के अन्त में ही पता लगाया है। सृष्टि के सम्बन्ध में सब से अधिक मान इस

समय नीहारिकावाद Nebular Theory को दिया जाता है। इस का आविष्कार फ्रांस के ज्योतिषी लेप्लेस ने किया था। नीहारिकावाद का अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्माण्ड पहिले नीहारिका (चमकती हुई धुंध) (nebula) के रूप में था। इस में गति थी। इस का आकार अण्डे का सा (elliptical) था। प्राकृतिक नियमों के प्रभाव से यह नीहारिका शनैः शनैः ठण्डी होती गई और इस के ऊपर के खोल (rings) धीरे धीरे अलग हो गये। जो खोल अलग हो गया, उस का ताप और तेज दोनों कम होते गये। बीच का भाग अधिक तेजस्वी तथा अधिक तापयुक्त रहा। यह बीच का भाग सूर्य है और अलग हुए खोल ठंडे हो हो कर ग्रह Planets बन गये हैं। इन ग्रहों में से एक पृथिवी है। इन खोलों की गति अब तक क़ायम है। सभी ग्रह अपने तथा सूर्य के गिर्द निरन्तर घूमते चले जाते हैं।

अब ज़रा आख्यायिका के शब्दों पर दृष्टि डालिये। सूर्य ही ब्रह्माण्ड का मूल है। प्रकृति जब कारण से कार्य अवस्था में आई तो वह अण्डाकार हो गई। इसी से इस का नाम ब्रह्माण्ड (ब्रह्म—अंड) हुआ। आज कल के वैज्ञानिक भी नीहारिका (nebula) का रूप अंडाकार (elliptical) ही मानते हैं। इस अंडाकार रूप पर उपनिषत्कार अपनी कविता-बुद्धि का चमत्कार दिखाता है। उसका कहना है कि अंडे के दो भाग हो गये। भाग के लिये उसका शब्द है "कपाल"। नपुंसक-लिंग 'कपाल' का अर्थ कोश में खोल (shell) दिया है जिसे नीहारिकावादी ring [चक्र] कहते हैं। अब आप किसी भी अंडे को देखिये। उस में आप हमेशा दो भाग पायेंगे। बीच का भाग पीला और उस के ऊपर खोल सा सफ़ेद भाग होगा। पीला सोना है और सफ़ेद चांदी। सोना अधिक तेजस्वी है, चांदी उससे कम। यही अवस्था सूर्य और उससे अलग हुए ग्रहों की है। सूर्य अंडे का बीच का भाग है, पृथिवी आदि ग्रह उस के ऊपर से उतरे हुए खोल हैं। बीच का तेजस्वी भाग सोने का है और ऊपर के कम तेजस्वी खोल चांदी के। कैसा सुन्दर रूपक है। कविता की कविता है और विज्ञान का विज्ञान। क्या उपनिषत्कार को लेप्लेस के नीहारिकावाद का ज्ञान था? आख्यायिका की साक्षी तो स्पष्ट है। संभव है, लेप्लेस कोई पुराना आर्य ज्योतिषी ही हो जिसने अठारहवीं शताब्दी

में फिर से यूरोप में जन्म लिया हो। उसका आधुनिक नीहारिकावाद (Nebular Theory) सृष्टि की किसी प्राचीन स्थापना की पुनरावृत्ति या गूंज मात्र ही है।

वेद और चन्द्र की उत्पत्ति

यह तो हुई ग्रहों की उत्पत्ति। अब उपग्रहों (satellites) को देखिये। ग्रह तो पृथिवी आदि हुए जो सूर्य के गिर्द घूमते हैं। उपग्रह चन्द्र आदि हैं जो ग्रहों के गिर्द घूमते हैं। यजुर्वेद में एक मन्त्र आया है:—

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते।
प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि। यजु० १. २८।

इस मन्त्र पर भाष्यकार महीधर लिखते हैं:—

एक वार देवताओं को असुरों के साथ युद्ध करना पड़ा। देवताओं ने आपस में परामर्श किया कि इस पृथिवी का जो ऊपर उठा हुआ देवयज्ञ का स्थल है इसे चन्द्रमा में रख कर युद्ध करें। यदि हमारी हार हो गई तो इस देवयज्ञ की स्थली में यज्ञ करके फिर दैत्यों को हरायेंगे। यह विचार कर उन्होंने पृथिवी के सार-भाग—देवयज्ञ के स्थल को चन्द्रमा में स्थापित कर दिया।

इस कथा में सन्तति-विज्ञान सम्बन्धी एक बात कही गई है। परन्तु उस का हमारे आज के प्रसंग से सम्बन्ध नहीं। आज तो मुझे केवल एक वैज्ञानिक धारणा की ओर संकेत करना है। वेद में कहा है:—

पुरा क्रूरस्य विसृपः......(अंशं) आदाय पृथिवीं......
चन्द्रमसि उदैरयन्।

अर्थात् प्राचीन काल में क्रूर विसर्पन-शील पदार्थ के एक अंश को लेकर पृथिवी को चन्द्रमा के रूप में परिणत किया।

यजुर्वेद का स्वाध्याय करते हुए जब मेरी दृष्टि मन्त्र के इस अंश पर पड़ी तो मुझे विचार आया कि हो न हो, यहां चन्द्र के पृथिवी से उत्पन्न होने का वर्णन है। नीहारिका (nebula) के अण्डे से अलग हुआ हुआ पृथिवी-रूपी खोल जब कुछ तो क्रूर (कठोर) हो चुका था और कुछ विसृप् (सर्पण-शील—द्रव fluid) अवस्था में था तो इस का एक भाग उस से अलग होकर चन्द्र बन गया। मैंने वेद के इस निर्देश की बात एक वैज्ञानिक महानुभाव से की। उन्होंने कहा—चन्द्र की उत्पत्ति पृथिवी से नहीं, सीधी सूर्य से हुई है; विज्ञान का यही सिद्धान्त है। मैं विज्ञान नहीं जानता था, इस लिये चुप रहा। पिछले दिनों मुझे एक और वैज्ञानिक मित्र ने बताया कि चन्द्र की उत्पत्ति पृथिवी से ही हुई है—यह बात अब वैज्ञानिकों की कल्पना-रूप ही नहीं रही, किन्तु अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि चन्द्रमा और प्रशान्त सागर—इन दोनों का कलेवर बराबर है। अर्थात् पृथिवी का जो अंश चन्द्रमा बन गया है, उसका खाली छोड़ा हुआ स्थान प्रशान्त सागर ने ले लिया है। प्रशान्त सागर मानों पृथिवी माता की वह कोख है जिस से चन्द्रमा रूपी बालक पैदा हुआ है।

Nebular Theory (नीहारिकावाद) की यहां समाप्ति है। अण्डे की शकल की चमकती हुई कुहर से सूर्य, सूर्य से पृथिवी आदि ग्रह, और इन ग्रहों से उपग्रहों की उत्पत्ति—सृष्टि के विकास का यह कैसा सुन्दर क्रम है। ये सारे पिण्ड ज्योतिर्मय हैं। कोई सुनहरी है, कोई रुपहरी। हैं सभी प्रकाश ही के पुतले। सभी निरन्तर घूम रहे हैं और ऐसे समतुलित हैं कि न तो कहीं एक दूसरे से टकराते हैं और न अपने मार्गों से विचलित ही होते हैं। ज़रा इनकी व्यवस्था एक अणुभर इधर से उधर हो जाये तो सही, एक क्षण में संसार भर का नाश होकर रह जाये। जहां इन के रूप रंग में एक अद्भुत सौन्दर्य है, वहां इन की उत्पत्ति के क्रम तथा वर्तमान समतुलित स्थिति में भी एक विचित्र चमत्कार है। कवि ने इसी सौन्दर्य पर ही तो रीझ रीझ कर कहा है:—

(१)

हे दिग्दिगन्त के तुलाधार !

किन पलड़ों में ये लोक धार

तुम तोल रहे हो विश्व-भार ?
गरिमा अनन्त ! महिमा अपार ! !
हे दिग्दिगन्त के तुलाधार !

(२)

किस अमित ज्योति के अमित खण्ड
बन गये ग्रहोपग्रह प्रचण्ड ?
धर फुलझड़ियों में तुला दण्ड
दिग्बालायें करतीं विहार !
हे दिग्दिगन्त के तुलाधार !

विकासवाद और सजीव जगत्

यहां तक वेद और उपनिषद् विकास-वाद का साथ देते हैं। नीहारिका से सूर्य, सूर्य से पृथिवी आदि ग्रह, और पृथिवी आदि ग्रहों से चन्द्रमा आदि उपग्रह पैदा हुए। सूर्य से लेकर चन्द्रमा तक सभी निर्जीव पदार्थ हैं। इन सब का विकास प्रकृति से हुआ है। परन्तु विकासवाद इस निर्जीव जगत् तक ही परिमित न रह कर, अब इस निर्जीव जगत् से सजीव जगत् की ओर मानो एक बड़ी छलांग लगाता है। विकास-वादियों का कहना है कि जैसे केवल प्रकृति से सूर्य, उस के ग्रह तथा उपग्रह बनते गये, उसी प्रकार उसी विकास-क्रम द्वारा आगे चलकर उसी निर्जीव प्रकृति से ही क्रमशः वनस्पतियां, पशु तथा मनुष्य पैदा होगये। इसके विपरीत धर्मवादियों का कहना है कि सजीव शरीर में जो प्राकृतिक अंश है वह तो प्रकृति से ही विकसित हुआ है, परन्तु उस में जो जीवन पाया जाता है वह प्रकृति का परिणाम नहीं है। जीवन का कारण आत्मा है जिस की सत्ता प्रकृति से भिन्न है। वैज्ञानिकों के इस साहस की प्रशंसा करनी चाहिये कि वे आये दिन पूरे बल के साथ यह दावा करते रहते हैं कि वे किसी दिन अपनी प्रयोग-शाला में कृत्रिम मनुष्य तक बनाकर दिखा देंगे। सब से छोटा तथा सरल सजीव पिण्ड कलल-रस (Protoplasm) है। उसी को जीवन का बीज कहा जाता है। वह कृत्रिम साधनों से बना लिया गया है। कृत्रिम कललरस

(Protoplasm) में कमी केवल इतनी ही रही है कि वह निर्जीव है । बनाने को तो मनुष्य के शरीर के भी सभी अंश—अस्थि, मज्जा, रुधिर तथा चर्म आदि कृत्रिम साधनों से बना लिये गये हैं । इन में भी त्रुटि केवल इतनी ही रही है कि इन के संयोग से बनाये हुए पुतले में जान नहीं आई है । इस समय तक का सम्पूर्ण वैज्ञानिक अनुभव एक स्वर से यही साक्षी दे रहा है कि जीवन, जीवन ही से पैदा होता है । आम का वृक्ष एक आम के ही वृक्ष के, गुठली-रूपी अंश से ही पैदा होगा । ऐसे ही पशु और मनुष्य । प्राकृतिक पदार्थों के संयोग से जीवन पैदा नहीं हो सका । सजीव शरीर में इन प्राकृतिक अंशों के अतिरिक्त अवश्य कोई और पदार्थ है जो जीवन का कारण है । धर्मवादी उसे आत्मा कहते हैं । इस प्रकार जीवन की उत्पत्ति के लिये आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी हीं पड़ती है ।

विकास-वाद इस समस्या को बीच में छोड़ कर सजीव जगत् की भिन्न २ जातियों की उत्पत्ति की कल्पना भी उसी विकास के क्रम द्वारा करता है । पहिले एक सजीव कोष्ठक (living cell) पैदा हुआ । उसके साथ अकस्मात् अन्य कोष्ठक मिल गये । इन में जीवन-संग्राम (struggle for existence) हुआ । जो प्राणी अपनी रक्षा करने तथा सन्तति का प्रवाह आगे चलाने में अधिक समर्थ (fittest) सिद्ध हुए, वे बच रहे, शेष नष्ट होगये । इसे विकास-वाद की परिभाषा में योग्यतम प्राणियों का अवशेषण (survival of the fittest) कहा जाता है । विकास-वाद की परिभाषा में योग्यता का अर्थ आत्म-रक्षा और सन्तति पैदा करने की शक्ति ही । जो गुण तथा अंग इन अवशिष्ट प्राणियों की इस योग्यता में सहायक होते गये, वे आगे चलकर उनकी सन्तति में भी संक्रान्त हुए । और जो गुण अथवा अंग आत्म-रक्षा तथा संतति की वृद्धि में बाधक सिद्ध हुए, वे धीरे धीरे नष्ट होते गये । इसी से प्राणियों के अंग क्रमशः बढे और घटे और इसी से सजीव जगत् की, विभिन्न अंगों वाली ये विभिन्न जातियां पैदा हुईं ।

विकास-वाद का आधार यही जीवन-संग्राम का सिद्धान्त है । प्राणी लड़ने के लिये पैदा हुआ है । जो अधिक लड़ाका तथा अपने वंश की वृद्धि में

अधिक साधन-संपन्न है, वही जीवन का सब से अधिक अधिकारी है। उसी में जीने की क्षमता है, जो औरों में नहीं है।

विकासवाद और बालफोर

विकास-वादियों के इस सिद्धान्त की आलोचना मैं अपने शब्दों में नहीं, किन्तु प्रसिद्ध अंग्रेज़ तात्विक अर्ल बाल्फ़ोर के शब्दों में करूंगा। सन १९१४ में इन महानुभाव ने ग्लासगो यूनीवर्सिटी में गिफ्फर्ड लेक्चर्स दिये थे। युद्ध के कारण वे लेक्चर बीच ही में रहगये। १९२२ में युद्ध के समाप्त होते ही इन्हें अपनी व्याख्यान-माला की पूर्ति के लिये फिर निमन्त्रित किया गया। व्याख्यान-दाता के लिये यह विशेष गौरव की बात थी। अपनी दूसरी व्याख्यान-माला में बाल्फ़ोर कहते हैं:—

> उन (विकास-वादियों) की यह कल्पना अशुद्ध है कि ये श्रेष्ठतम उत्कर्ष (विचार, आचार और कला या दूसरे शब्दों में सत्य, शिव तथा सुन्दर की उपासना) जीवन-संग्राम में कोई गंभीर महत्व की वस्तु हैं। जहां तक मुझे ज्ञात है, सन्त, तात्विक और कलाकार कभी अपने आप बड़े कुटुम्बों के पैदा करने में समर्थ नहीं हुए। जो जातियां इन का मान तथा प्रशंसा करती रही हैं और कभी कभी इन्हें जन्म भी देती रही हैं, उन्हें भी इन्होंने इस योग्य नहीं बनाया कि वे अपने प्रतिस्पर्धी समूहों को संसार के समृद्ध स्थानों से निकाल फेंके। उपयोगिता के प्राकृतिक (विकासवाद द्वारा प्रतिपादित) माप के अनुसार ये अनुपयोगी मनुष्य हैं।*

---

* They are wrong in supposing that these supreme values seriously count in the struggle for existence. Saints, philosophers, and artists have never, so far as I know, been specially successful in rearing large families themselves; nor have they enabled the communities which admired, and occasionally produced them, to crowd out rival populations from the rich places of the earth. As nature measures utility, they are useless.

Theism and Thought by Earl Balfour pp. 27–28

जीवन के विकास के सिलसिले में सब से अधिक विकसित प्राणी मनुष्य है और मनुष्य का सब से ऊंचा गुण सत्य, शिव तथा सुन्दर की उपासना है। दार्शनिक सत्य का उपासक है, सदाचारी पुरुष अथवा सन्त शिव का उपासक है और कलाकार सुन्दर का। विकसित मानव-स्वभाव के ये तीन अलंकारभूत गुण क्या जीवन-संग्राम का परिणाम हैं ? और क्या जीवन-संग्राम की दृष्टि से इन गुणों की अणुमात्र भी उपयोगिता है जिसके कारण विकासवादियों के सिद्धान्त के अनुसार ये नष्ट होने से बच गये हैं ? अधिक स्पष्ट शब्दों में क्या ये गुण शरीर की रक्षा अथवा संतान की वृद्धि में सहायक हो सकते हैं ? क्या एक दार्शनिक, दार्शनिक की हैसियत से, सन्त सन्त की हैसियत से, कलाकार, कलाकार की हैसियत से अपने शरीर की रक्षा तथा सन्तान की वृद्धि में दूसरों की अपेक्षा अधिक समर्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर मैं एक दो उदाहरणों द्वारा दूंगा।

भारत का एक प्रसिद्ध दार्शनिक था वाचस्पति मिश्र, उसने पूर्व मीमांसा के सिवाय और सभी दर्शनों पर टीका लिखी है। उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसकी धर्मपत्नी की इच्छा सन्तान पैदा करने की थी। उसने यह इच्छा पति-देव के सामने प्रकट की। पति ने पूछा—सन्तान क्यों चाहती हो ? सती ने कहा—इसलिये कि पीछे नाम रहे। वाचस्पति उन दिनों वेदान्त दर्शन पर टीका लिख रहे थे। उन्होंने उसका नाम "भामती" रख दिया। यही उनकी धर्मपत्नी का नाम था। सती से उन्होंने झट कह दिया—लो, अब नाम तो अमर हो ही गया। सन्तान लेके अब और क्या करोगी ?

विकासवाद की दृष्टि से वाचस्पति मिश्र निस्सन्देह एक अयोग्य पुरुष था, क्योंकि उसने सन्तान की उत्पत्ति नहीं की। ऐसे मनुष्यों का, जीते रहने का अधिकार कुछ है ही नहीं।

राइट औनरेबल श्री निवास शास्त्री ने अमेरिका में महात्मा गांधी का परिचय देते हुए कहा था कि उन्होंने एक बार महात्मा को अपने दुपट्टे से एक

कोढ़ी के शरीर को पोंछते देखा था। अब कोढ़ी तो अयोग्य प्राणी है ही। वह न आत्म-रक्षा कर सकता है न सन्तति की वृद्धि। विकासवाद के अनुसार जीवन-संग्राम से बच रहने का उसका कोई अधिकार नहीं है। धर्म जो ऐसे मनुष्यों की सहायता पर बल देता है बिल्कुल अनुचित करता है! कोढ़ी को छोड़िये। स्वयं महात्मा गान्धी में भी जीवन की क्षमता कहां है? वे शरीर के दुबले पतले हैं और हमेशा अपनी जान जोखिम में डाले रहते हैं। वे जीवन-संग्राम में जीत जाने के—अर्थात् जीते रहने के अधिकारी कहां है? विकास-वाद के अनुसार वे भी फ़ालतू प्राणी हैं।

ऋषि दयानन्द से तो कहा ही गया था कि जोधपुर न जाइये। वह भूमि अक्खड़ लोगों की है। आपकी शिक्षा से लाभ उठाने के स्थान में वे लोग कहीं आप के प्राण ही न हर लें। ऋषि का यह ऐतिहासिक उत्तर—कि यदि वे मेरी उँगलियों को काट कर बत्तियों की तरह जला डालें और इस से उन के अँधेरे मार्ग में उजाला हो जाये तो मैं इसी में अपने जीवन को सफल समझूंगा—किस आर्य के हृदय-पटल पर अंकित नहीं है? ऋषि का प्राणान्त दीपमालिका के दिन हुआ और उस का उपक्रम जोधपुर में ही शत्रुओं के विषदान द्वारा हुआ था। इन सब संयोगों को दृष्टि में रख कर कवि ने कहा है:—

अंगुलियों को दीप बनाने, किया जोधपुर वृथा प्रयाण।
यज्ञ रूप हो तुम तो क्षण-क्षण, होम रहे थे निज प्रिय प्राण॥
अंगुलियों का, दीपमाल की अंगुलियां दे रहीं निशान।
जले दियों की कथा छेड़ने लगे दीप, जल उठी ज़बान॥

विकास-वाद की दृष्टि से, जनता के पथ-प्रदर्शनार्थ अंगुलियों को बत्ती बनाने वाला दयानन्द जीवन की क्षमता से शून्य था, क्योंकि वह तो आत्म-रक्षा नहीं, आत्मोत्सर्ग की ओर पग बढ़ा रहा था।

जीवन-होड़ के विचार से वाचस्पति मिश्र, गान्धी तथा दयानन्द तीनों अयोग्य पुरुष हैं। तो क्या उन्हें एक फालतू वस्तु की तरह जीवन-संग्राम के कूड़ेदान में फेंक कर हमें भौतिक विकास के राजमार्ग पर आगे बढ़ते जाना

चाहिए। बाल्फ़ोर के सामने ये दो विकल्प साफ़ हैं कि या तो सन्त तथा दार्शनिक मानव जाति के श्रेष्ठ नहीं, निकृष्ट—निकम्मे—सदस्य हैं या फिर विकास-वाद की परख ही अशुद्ध है। बाल्फ़ोर दूसरे पक्ष को स्वीकार करता है। उस की दृष्टि में मानव जीवन का शिरोमणि-भूषण आत्म-त्याग है, स्वार्थ-पूर्ण आत्म-रक्षा नहीं। आत्म-त्याग सरीखे उत्तम उत्कर्ष की उत्पत्ति संग्राम द्वारा नहीं हो सकती। यह जीवन-होड़ का परिणाम कदापि नहीं है। यह प्रभु की कृपा ही का फल है। सत्य शिव और सुन्दर की ओर रुचि उस प्रभु ही की प्रेरणा से होती है जिस में इन तीनों सद्गुणों की पराकाष्ठा रहती है। बाल्फ़ोर ईश्वरवादी है। वह जीवन की उत्पत्ति का कारण ईश्वर की व्यवस्था को मानता है।

बालफ़ोर और त्रैतवाद

सत् पदार्थों के सम्बन्ध में बाल्फ़ोर के विचार में तर्क तो किसी निश्चय पर पहुंच ही नहीं सकता। परन्तु हमारे जीवन का व्यवहार इसी विश्वास के आधार पर चल सकता है कि सत् पदार्थ तीन हैं। यही विश्वास हमारे वैज्ञानिक विचार तथा आविष्कारों की जान है। ये तीन पदार्थ बालफ़ोर के अपने शब्दों में ये हैं:—

१. अब जिस विश्वास को हम तर्क संगत बनाने का यत्न कर रहे हैं, वह अपने अति-परिचित रूप में संसार की स्थूल सत्यता को स्वीकार करने वाला है। वह एक ऐसे बाह्य जगत् की सत्ता की घोषणा करता है जो हमारे इन्द्रिय-गोचर तो होता है परन्तु (उस की सत्ता) हमारे ऐन्द्रिय-ज्ञान से (सर्वथा) स्वतन्त्र है। न तो उस की रचना हमारे विचार-द्वारा होती है, और न उस के गुण हमारी इन्द्रियों की कृति हैं। *

---

* Now the creed which we are endeavouring to rationalise is, in its most familiar form, crudely realistic. It proclaims the being of an external world, perceived, yet independent of perception, neither constituted by our thought nor qualified by our senses.

Theism and Thought p. 108

२. एक पुरुष के स्वरूप को समझने के लिये हमें मानसिक घटनाओं को एक दूसरे से अथवा अपने आपसे जोड़ देने वाले किसी एकीकरणात्मक तत्व की ही नहीं किन्तु उस से किसी अधिक महत्व-पूर्ण वस्तु की आवश्यकता है। "अहं" का अपना स्वरूप उन क्रियाशील तथा निष्क्रिय अनुभूतियों से—जिन्होंने उस के चैतन्यमय जीवन को परिपूर्ण कर रखा है—बिल्कुल भिन्न होना चाहिए। उसका (या यों कहिये कि उसे स्वयं) एक आत्मा होना चाहिये—वह आत्मा जो शक्तियों के संगठित समूह अथवा मानसिक दशाओं की धारा से ऊंची कोई (अन्य) वस्तु हो।*

३. हमारे इस "परिचित विश्वास" का आधार हमें किसी न किसी प्रकार के ईश्वर-वाद ही को समझना चाहिये। ईश्वरवाद को न तो हम एक असंगत भ्रांति कह कर ही एक ओर फेंक सकते हैं और न उसे एक शिक्षा-पूर्ण पाद-टिप्पणि में ही जगह देकर उससे पीछा छुड़ा सकते हैं। यदि (सत्य, शिव तथा सुन्दर तत्वों के—ये बौद्धिक) महत्व सुरक्षित रखने हों तो आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन (ईश्वरीय ज्ञान) की सत्यता की कल्पना का महत्व मेरी सम्मति में हमारी मूल-भूत कल्पनाओं में सब से अधिक हो जाता है। ×

* In order to constitute a person we require, it seems to me, something more than a unifying principle relating mental events to each other and to itself. An "I" must have character quite apart from the experiences, active and passive, which fill his concious life. He must have (or be) a soul—a soul which is something more than an organised collection of capacities, or a procession of psychical states.

Ibid p. 202

× Theism, in some form or other, we must regard as an essential support of our "familiar creed"; neither to be tossed aside as an irrelevant superstition, nor respectfully buried in an edifying footnote. If intellectual values are to be maintained, the reality of spiritual guidance thus becomes, in my view, the most important of our fundamental assumptions.

Ibid p. 235

यही तीन पदार्थ ऋषि दयानन्द की अनादि-त्रयी हैं। ऋषि दयानन्द की तर्कणा बाल्फ़ोर की तर्कणा से भिन्न है। उनके त्रैतवाद का दार्शनिक स्वरूप भी कुछ और है। इस स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार एक नहीं हैं। तो भी इस में किसी का मतभेद नहीं कि ऋषि इन्हीं तीन पदार्थों— परमेश्वर, जीव और प्राकृतिक जगत् को सत् मानते हैं। ऋषि इनमें से किसी की भी सत्ता को मिथ्या नहीं मानते हैं। उनके लिये ये तीनों पदार्थ सत्य हैं। ऋषि ने संसार को अपना मूल-भूत दार्शनिक विचार यही दिया है। इसी विचार की एक और ढंग से की गई व्याख्या बाल्फोर के उपर्युक्त व्याख्यान हैं।

डाक्टर वार्ड और पुनर्जन्म

डा० वार्ड भी एक अनेक-सत्तावादी (Pluralist) दार्शनिक हैं। उन्होंने सन् १९०७-१० में सेंट एंड्रूज़ यूनिवर्सिटी में गिफ़र्ड लेक्चर्स दिये थे। उन में उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की सत्यता स्वीकार की है। वे कहते हैं:—

> लीबनिज़ के विचार की तरह अनेक-सत्तावादी विचार भी यही है कि जो व्यक्ति अब विद्यमान हैं वे सब पूर्व से विद्यमान रहे हैं और अनिश्चित समय तक विद्यमान रहेंगे। ❋
>
> सर्वात्मवाद को उस के पूर्णरूप में स्वीकार करने का एक अनिवार्य परिणाम किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अंगीकार करना होगा। ×

❋ According to the pluralistic, as according to the Leibnizian view, all the individuals there are have existed from the first and will continue to exist indefinitely.

(Realm of Ends by Ward p. 204).

× At any rate "metempsychosis" in some form seems an unavoidable corollary of thoroughing pamsychism,

Ibid p. 213

ऋषि दयानन्द और मिल

आर्य दार्शनिकों के विचार किस प्रकार आज के दार्शनिक संसार में प्रचार पा रहे हैं यह एक अत्यन्त रोचक विषय है। अंग्रेज तात्विक जे. एस. मिल ऋषि दयानन्द का समकालीन था। उसकी रची पुस्तक "लिबर्टी"—स्वाधीनता में निम्न लिखित वाक्य मोटे अक्षरों में छपा हुआ मिलता है:—

> To individuality should belong the part of life in which it is chiefly the individual that is interested; to society the part which chiefly interests society.

> व्यक्ति के अधीन उसके जीवन का वह भाग होना चाहिए जिस में व्यक्ति का अपना हित है और समाज के अधीन वह भाग जिस में समाज का हित है।

यह आर्यसमाज के दसवें नियम का उलथा नहीं तो क्या है ? बिल्कुल एक से दो विचार दो भिन्न भिन्न अन्तःकरणों में कैसे आये ? ऋषि दयानन्द भारतवर्ष में थे, मिल इंग्लैण्ड में। दोनों की लेखनी से एक ही सी शब्दावली निकली। क्या कोई एक ही गुप्त शक्ति दोनों को साधन-रूप में प्रयोग कर रही थी ?

ये दो वाक्य तो, सम्भव है, संयोग-वश ही समान हो गये हों। इन से अधिक आश्चर्यकारक मिल के धार्मिक विचार हैं। साधारणतया मिल की रुचि धर्म की ओर नहीं थी और उस की विचार शैली भी कुछ ऐसी थी जिस से उसके ईश्वर-विश्वासी होने का अनुमान करना कठिन था। परन्तु उसके देहान्त के पश्चात् उसके कुछेक निबन्ध प्राप्त हुए जिन्हें "धर्म विषयक तीन निबन्ध"—Three Essays on Religion नाम से प्रकाशित किया गया। यह मिल की अन्तिम रचना थी। अतः इसे उस के परिपक्व विचारों ही का संग्रह समझना चाहिये।

इन निबन्धों में मिल ने परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है परन्तु उसका कहना है कि—

इन प्रमाणों की साक्षी पर विचार करने से हम इस परिणाम पर तो नहीं पहुंचते कि किसी चेतन आत्मा ने ब्रह्माण्ड को असत् से सत् किया है किन्तु यह अवश्य मानना पड़ता है कि इस ब्रह्माण्ड की वर्तमान व्यवस्था की रचना उसके द्वारा हुई है। एक ऐसी आत्मा द्वारा जिसका साधनों पर अधिकार सर्वथा स्वतन्त्र नहीं था और जिसका रचना में एक मात्र प्रेरक भाव यही न था कि वह स्वरचित प्राणियों से प्रेम करता था तथापि वह इनका कल्याण करना चाहता था। यह विचार हमें बिलकुल छोड़ देना चाहिये कि किसी सर्वशक्तिमान् शासक ने अपने रचे हुए प्राणियों के हित के लिये पूर्व से ही सब प्रबन्ध कर रक्खे हैं। पृष्ठ २४३ *

मिल ईसाई धर्म के सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सत्ता से इनकार करता है। उसका कहना है कि प्रकृति को भी परमेश्वर के साथ सत् मानना चाहिए। परमेश्वर दयालु है परन्तु संसार की घटनायें बतलाती हैं कि उसकी दया पर प्रतिबन्ध हैं— उसके रास्ते में रुकावटें आती हैं। संसार केवल दया का चित्र नहीं है।

अब यदि इसके साथ साथ ऋषि दयानन्द द्वारा किया गया "सर्वशक्तिमान्" का लक्षण पढ़ा जाय तो पता लगेगा कि ऋषि दयानन्द के विचार से मिल का विचार कितना अधिक मिलता है। ऋषि दयानन्द ने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर, स्पष्ट प्रतीत होने वाले प्रतिबन्ध का निश्चित स्वरूप तक बता दिया है, वह प्रतिबन्ध हैं

* The indication given by such evidence as there is, points to the creation, not indeed of the universe, but of the present order of it by an Intelligent Mind, whose power over the materilals was not absolute, whose love for his creatures was not his sole actuating inducement, but who nevertheless desired their good. The notion of a providential government by an Omnipotent Being for the good of his creatures must be entirely dismissed.

Three Essays on Religion by J. S. mill p. 243

आत्माओं के जन्म-जन्मान्तर के कर्म तथा प्रकृति के गुण। ईश्वर दया करता है परन्तु मनुष्यों के कर्मों का अतिक्रमण नहीं कर पाता। प्राणी कष्ट में रहते, कठोर यातनाएँ सहते हैं। इसका कारण उनके अपने कर्म हैं जिनका फल उनको देना ईश्वर की दया है।

परलोक के सम्बन्ध में मिल कहता है:—

"हमारे भाग्य के उत्साह-भंजक अंशों में से एक यह सचाई है कि जीवन की अवधि थोड़ी है और उसमें करने योग्य काम अधिक। (परलोक की) आशा में इस सम्भावना की स्वीकृति शामिल है कि आत्मा की उन्नति तथा सुधार के लिये किया गया परिश्रम, यदि इस जीवन में निष्फल भी प्रतीत हो, तो किसी अन्य जीवन में हित-साधक हो सकता है। ❀

उस जीवन का स्वरूप कैसा होगा—इस पर प्रकाश डालते हुए मिल लिखता है:—

हमारे विचार करने वाले तत्व (आत्मा) के अपने नियम हैं जो इस जीवन में अटल रहते हैं। इस जीवन को उदाहरण मान कर हमें स्वीकार करना चाहिये कि यही नियम आगे भी रहेंगे। यह कल्पना कि मृत्यु के समय परमेश्वर चमत्कार करके कुछ अपने चुने हुए मनुष्यों को पूर्ण बना देगा, किसी भली प्रकार सत्य सिद्ध किये गये स्पष्ट ईश्वरीय ज्ञान द्वारा ठीक प्रमाणित हो जाये तो हो जाये, अन्यथा यह विचार नैसर्गिक प्रकाश द्वारा निर्मित प्रत्येक धारणा के तो बिलकुल विपरीत है। ×

❀ The truth that life is short and art is long is from of old one of the most discouraging parts of our condition; this hope admits the possibility that the art employed in improving and beautifying the soul itself may avail for good in some other life, even when seemingly useless for this.

Ibid pp. 249–250

× Our thinking principle has its laws which in this life are invariable, and any analogies drawn from this life

महात्मा ईसा का स्वरूप मिल की दृष्टि में यह है:—

> एक युक्ति-युक्त सन्देहवादी की दृष्टि में बस यही संभावना रह जाती है कि ईसा वास्तव में वही था जो वह स्वयं अपने आप को समझता था— ईश्वर नहीं क्योंकि उसने ऐसा होने का कभी दावा नहीं किया। अधिक संभावना यह है कि वह स्वयं ऐसे दावे को उतना ही धर्म-विरुद्ध समझता जितना उस की निन्दा करने वाले समझते थे। वह एक मनुष्य हो सकता है जिसे परमेश्वर ने मानव जाति को सत्य और सदाचार का रास्ता दिखाने की विशेष, स्पष्ट तथा असाधारण आज्ञा देकर भेजा है। *

ऋषि दयानन्द और मिल के धार्मिक विचारों में समानता कितनी स्पष्ट है—इस में किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दोनों में भेद यह है कि दयानन्द ऋषि हैं और मिल दार्शनिक। ऋषि सचाई को देखता है— उसका साक्षात्कार करता है। अतः उसके वर्णन में विश्वास का बल होता है। तार्किक

must assume that the same laws will continue. To imagine that a miracle will be wrought at death by the act of God making perfect every one whom it is his will to include among his elect, might be justified by an express revelation duly authenticated, but is utterly opposed to every presumption that can be deduced from the light of Nature.

(Three Essays on Religion page 211)

* To the conception of the rational sceptic, it remains a possibility that Christ actually was what he supposed himself to be—not God, for he never made the smallest pretension to that character and would probably have thought such a pretension as blasphemous as it seemed to the men who condemned him—but a man charged with a special, express and unique commission from God to lead mankind to truth and virtue.

अनुमान से काम लेता है, और अनुमान में स्वभावतः साक्षात्कार का सा बल नहीं आ सकता।

मिलने अपने त्रैतवादी होने की घोषणा नहीं की परन्तु उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट इसी ओर है।

मीर्ज़ा क़ादियानी और ऋषिदयानन्द

मैंने बहुत सा समय यूरोप के विचारकों के अर्पण कर दिया है। मैंने यह सिद्ध किया है कि पश्चिम के, चोटी के दार्शनिक, विचार की उसी शैली का अनुसरण कर रहे हैं जो प्राचीन ऋषियों की थी और जिसे आधुनिक समय में ऋषि दयानन्द ने फिर से जीवित किया है। इन दार्शनिकों के बड़े बड़े विश्व-विद्यालयों में इसी विचार-शैली के अनुसार व्याख्यान होते हैं जिन का संग्रह संसार के स्थिर साहित्य का भाग बनता है। ये व्याख्यान इतने महत्त्व के हैं कि एक दो दिन में ही समाप्त नहीं हो गये किन्तु वर्षों तक जारी रहे हैं। मिल इंग्लैण्ड का अद्वितीय विचारक समझा जाता है जो एक अक्षर भी बिना सोचे समझे नहीं लिखता था। उस की प्रत्येक रचना विचारक जगत् में अत्यन्त आदर-पूर्वक देखी जाती है। वह ऋषि दयानन्द के कितना समीप है!

आओ! अब कुछ समय अपने भारतवर्ष में ही धार्मिक विचार की प्रगति का अवलोकन करें। यहां भी ऋषि दयानन्द के लेखों का प्रभाव धार्मिक नेताओं के मस्तिष्क की गति-मति पर पड़ा है या नहीं? आधुनिक भारत तो है ही ऋषि दयानन्द का। जो विचार ऋषि दयानन्द ने आज से पचास साठ साल पूर्व प्रकट किए थे, वही अन्य धार्मिक नेता आज प्रकट कर रहे हैं।

जिन दिनों मैं लाहौर में रहता था, एक क़ादियानी महानुभाव का एक ग्रन्थ मेरी दृष्टि में आया। उन क़ादियानी महानुभाव का नाम मौ० मुहम्मद इस्हाक़ है और उन के ग्रन्थ का नाम "हदूसे-रूह-व-माद्दा" अर्थात् आत्मा और प्रकृति का सादित्व। इस पुस्तक के लेखक ने मीर्ज़ा गुलाम अहमद साहब के प्रमाण से यह स्थापना की थी कि सृष्टि का प्रवाह अनादि तो है परन्तु बीच बीच में टूट जाता है। हम भी तो प्रत्येक दो सृष्टियों के बीच में प्रलय का होना मानते ही

हैं। हमारे प्रलय-सिद्धान्त और मीर्ज़ा गुलाम अहमद के प्रलय-सिद्धान्त में भेद केवल इतना है कि मीर्ज़ा कादियानी प्रलय के समय परमेश्वर के सिवाय अन्य पदार्थों का अत्यन्ताभाव मानते हैं; और हमारे सिद्धान्त के अनुसार उस समय इन ईश्वर-भिन्न पदार्थों का व्यवहार तो नहीं होता, परन्तु यह सारा संसार कारण अवस्था में विद्यमान अवश्य रहता है। यों तो क़ादियानी महानुभाव ने भी यह स्वीकार किया है कि जो मनुष्य एक बार पैदा होगया उस का नाश न होगा। जब ऐसा है तो प्रलय-काल में ईश्वर-भिन्न पदार्थ मौजूद रहे ही। मीर्ज़ा साहब की उक्तियों में परस्पर विरोध है। कुछ हो, मीर्ज़ा साहब का सिद्धान्त यही बताया गया है कि प्रलय-काल में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं का समूल नाश हो जाता है। तो भी इस प्रलय-काल को छोड़ कर शेष समय में सृष्टि-प्रवाह बना रहता है जो अनादि और अनन्त है।

यह सिद्धान्त आर्य सिद्धान्त के कितना निकट है! मैं हैरान था कि ईश्वर-भिन्न वस्तुओं का एक सृष्टि-प्रवाह के रूप में ही सही—अनादित्व इस्लामी धर्म में कैसे स्वीकार कर लिया गया? इसलामी मत में आर्य धर्म का यह पुट किसने दिया?

साप्ताहिक 'प्रकाश' के किसी ऋष्यङ्क में एक चित्र छपा था। उस में ऋषि पर कुछ बालक रोड़े फेंक रहे हैं और ऋषि उन्हें लड्डू दिखा कर अपनी ओर बुला रहे हैं। बालक लड्डू ले लेते हैं और पत्थर फेंकना छोड़ देते हैं।

मीर्ज़ा गुलाम अहमद साहिब ने ऋषि के जीवन में तो उनका नाम तक नहीं लिया। उन के देहान्त के अनन्तर एक आध गाली के साथ उनका वर्णन किया है। मैं अपने हृदय से पूछने लगा कि क्या इन मीर्ज़ा साहब के वास्ते ऋषि के पास कोई लड्डू नहीं था? कुछ दिन पश्चात् मैंने मीर्ज़ा साहब का उक्त सृष्टि-सिद्धान्त सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण में वर्णित पाया। मैं समझ गया—मीर्ज़ा साहेब ने ऋषि के ग्रन्थ से लाभ उठाया है। ऋषि का एक अधूरा त्रुटित सा लड्डू मीर्ज़ा साहब के साथ भी आया है।

ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण के पृ० २९५ पर लिखते हैं:—

जब (तक) संसार का अत्यन्त प्रलय न होगा तब भी वे मुक्त जीव आनन्द में रहेंगे और अत्यन्त प्रलय होगा तब कोई न रहेगा ब्रह्म का सामर्थ्य रूप और एक परमेश्वर के बिना।

इस अत्यन्त प्रलय का नाम मीर्ज़ा साहब की परिभाषा में "वहदत का ज़माना "है जब" खुदा हर एक जानदार को हलाक कर देगा"। यह ज़माना पहिले भी आता रहा है। उस समय "खुदा के साथ कोई न था"।

नश्मा-ए-मारिफ़त पृ० १७६, १७८

गाली देने से इतना तो प्रकट है कि मीर्ज़ा साहब ऋषि के नाम और काम से परिचित थे। ऋषि का लड्डू उन तक पहुंचा था, चाहे वह त्रुटित अवस्था में ही क्यों न हो।

ऋषि ने उसी पुस्तक के पृ० २६८ पर एक अन्य प्रकरण में लिखा है—

जो आत्मा और परमाणवादिक जिन से शरीर बना है और परमेश्वर इन नित्य पदार्थों में........

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सत्यार्थ प्रकाश के पहिले संस्करण में भी त्रैतवाद का बीज पाया जाता है, यद्यपि उसका परिष्कार आगे चल कर हुआ। मीर्ज़ा साहब का ध्यान पूर्वोक्त उद्धरण की ओर गया प्रतीत होता है, इस दूसरे स्थल की ओर नहीं।

मौलाना आज़ाद और सत्यार्थ प्रकाश

सर सैयद और मौलाना शिब्ली के लेखों के उद्धरण मैं इस से पूर्व किसी और वर्ष आपके सम्मुख रख चुका हूं। आजकल कुरान का एक नया भाष्य किया जा रहा है। पत्रों में भी उसकी चर्चा हुई है। पत्रकारों ने संभवतः उसके एक भाग का हिन्दी अनुवाद ही देखा है। वह अनुवाद अपूर्ण है और भाष्य का केवल वही हिस्सा उसमें संकलित किया गया है जो मुसलिम-भिन्न लोगों को प्रिय हो। भाष्य के कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जिनकी स्वभावतः विपरीत समालोचना की जायगी परन्तु फिर भी साधारण दृष्टि से देखते हुए कहा जा सकता है कि यह भाष्य इसलाम में एक बिल्कुल नई प्रवृत्ति का द्योतक है। मेरा अभिप्राय मौलाना

अबुल-कलाम आज़ाद के तर्जुमान्-उल्-कुर-आन से है। उस से दो एक उद्धरण आपके सम्मुख रखूंगाः—

संसार के हर कोने में प्रकृति के नियम ईश्वर की ओर से एक से ही हैं। वे न तो कई तरह के हो सकते हैं और न परस्पर विरोधी हैं। इसलिए आवश्यक था कि यह हिदायत भी आरम्भ से एक सी होती और एक ही तरह पर सब मनुष्यों को मुखातिब करती। इसलिए कुरान कहता है कि ईश्वर के जितने पैग़म्बर हुए हैं, चाहे वे किसी भी युग और देश में क्यों न हुए हों सब का मार्ग एक ही था, और सब ने मानवकल्याण के लिए ईश्वर के एक ही विश्वव्यापी नियम का उपदेश दिया! कल्याण का यह विश्वव्यापी नियम क्या है? यह नियम ईमान (विश्वास) और सत्कर्मों का नियम है, यानी एक ईश्वर की उपासना और नेकी का जीवन व्यतीत करना। इसके अतिरिक्त और इसके प्रतिकूल जो बातें धर्म के नाम पर कही जाती हैं वह सच्चा धर्म नहीं है।

(कुरान और धार्मिक मत भेद (पृ २३ २४)

कुरान कहता है कि सब धर्मों की शिक्षा में दो तरह की बातें होती हैं। एक तो वह जो धर्मों का तत्त्व और उनका सार है, दूसरी वह जिनसे उन धर्मों का बाहरी रूप सजाया गया है। पहली मुख्य और दूसरी गौण है। पहली को कुरान 'धर्मतत्त्व' (दीन) और दूसरी को विधि-विधान (शरअ और नुसुक) का नाम देता है। इस दूसरी चीज़ के लिए 'मिनहाज' का शब्द भी इस्तेमाल किया गया है। 'शरअ' और 'मिनहाज' का शब्दार्थ मार्ग है, और 'नुसुक' का अर्थ उपासना की विधि है। कुरान कहता है कि धर्मों में जो कुछ भी असली भिन्नता है वह धर्मतत्त्व की नहीं बल्कि नियमों और विधि-विधान की भिन्नता है, यानी मूल की नहीं शाखाओं की है, असलीयत की नहीं बाहरी रूप रंग की है, आत्मा की नहीं शरीर की है। और इस भिन्नता का होना अनिवार्य था।

वह (पृ. ३३)

अगर एक आदमी किसी ख़ास मज़हबी गिरोह में शामिल हैं तो यह विश्वास किया जाता है कि उसे मुक्ति मिल गई और उसने धार्मिक सत्य प्राप्त कर लिया। अगर वह शामिल नहीं है तो विश्वास किया जाता है कि

मुक्ति का द्वार उसके लिए बन्द है और धार्मिक सचाई में उसका कोई हिस्सा नहीं। मानो साम्प्रदायिकता और दलबन्दी ही धर्म की सच्चाई, अन्त समय की मुक्ति और सत्य तथा असत्य की कसौटी है।

इस सम्बन्ध में क़ुरान ने जिन महान् बातों पर ज़ोर दिया है उनमें तीन सब से स्पष्ट हैं।

मनुष्य का कल्याण और उसकी मुक्ति उसके विश्वास और उसके कर्मों पर निर्भर है, न कि सम्प्रदायविशेष पर।

जैसे इन बातों में सभी एक मत हैं कि सच बोलना अच्छा है और झूठ बोलना बुरा, ईमानदारी अच्छी बात है, और बेईमानी बुरी।

क़ुरान कहता है, ईश्वरीय धर्म उन्हीं कामों को मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य करार देता है जिनकी अच्छाई आम तौर पर मनुष्यसमाज ने समझ ली है। इसी तरह उन सब कामों को ईश्वरीय धर्म निषिद्ध करार देता है जिन्हें आम तौर पर लोग अस्वीकार करते हैं और जिन्हें बुरा कहने में सभी धर्म सहमत हैं।

इन उद्धरणों को देखकर मेरे एक मित्र ने कहा— क्या यह सत्यार्थ प्रकाश की प्रतिलिपि ही नहीं है? धर्म का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में हुआ था। कालान्तर में देशकाल के अनुसार उसके विविध रूप होगये। श्रुति एक रही, स्मृतियां भिन्न भिन्न हो गईं। मुक्ति सत्कर्मों से होती है, किसी सम्प्रदाय विशेष में सम्मिलित होने से नहीं— इन सब तथ्यों का प्रकाश ऋषि के ग्रन्थों में मिलता है। सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में ऋषि लिखते हैं:—

> जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन मतों वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसाके परस्पर शत्रु बना लिया है।

मौलाना आज़ाद ने क्या ऋषि के इन वाक्यों को उद्धृत ही नहीं कर दिया?

इधर मौलाना का यह उदार विचार देखिये कि मुक्ति इन सर्व-सम्मत सत्कर्मों के आचरण से प्राप्त होती है, और उधर स्व० मौलाना मुहम्मद अली की इस उक्ति का स्मरण कीजिये कि एक दुराचारी मुसलमान मेरे लिये महात्मा गान्धी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तब आप उस महान् परिवर्तन का अनुमान कर सकेंगे जो इसलामी जगत् में ऋषि के पुण्य प्रताप द्वारा हो रहा है। वास्तव में इस्लाम के क्षितिज पर एक नये सितारे का प्रादुर्भाव हो रहा है (यहां सभा-मंडप में तालिका-ध्वनि हुई) जिसका स्वागत आपकी तालियां कर रही हैं।

आप पूछ सकते हैं कि मौलाना अबुलकलाम के लेख को ऋषि के प्रभाव का परिणाम कैसे माना जाये? प्रथम तो ऋषि के विचार अब पुस्तकों तक ही परिमित नहीं रहे। धार्मिक संसार का सम्पूर्ण वातावरण उनसे परिपूर्ण हो रहा है। यदि यह युक्ति पर्याप्त न हो तो लीजिये और स्पष्ट प्रमाण दूं। मैंने दैनिक 'तेज' में एक लेख लिखा था 'कुरान और गीता'। संपादक महोदय ने मुझ से कहा, कि वह अंक मौलाना आज़ाद ने मेरे उस लेख के कारण ही मँगाया था। जो मौलाना इतने जागरूक हैं कि मेरे लेख तक को पढ़ने से नहीं चूकते, वे बीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष में रहते हुए भी अपने धर्म पर ऋषि दयानन्द की आलोचना से अनभिज्ञ रहें— यह मौलाना की सतर्कता के साथ अन्याय है। उन्होंने अवश्य ऋषि के विचारों से लाभ उठाया है। इसी का परिणाम-स्वरूप उन की कुरान की नई टीका है। इन अंशों में उसे कुरान का आर्य-भाष्य कहना चाहिये।

उपसंहार

इस प्रकार मैंने नीहारिका (Nebula) से लेकर सूर्य, उस के ग्रहों तथा चन्द्रमा आदि उपग्रहों की उत्पत्ति का वर्णन कर बालफोर के शब्दों में सजीव-जगत् में विकासवाद की स्थापना का खण्डन किया और बताया कि संसार की समस्या का समाधान प्रकृति, आत्मा तथा परमात्मा—इन तीनों की पृथक् पृथक् सत्ता को स्वीकार करने से ही हो सकता है। यही प्रवृत्ति मिल के लेखों की है। मीर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी ने भी ईश्वर के अतिरिक्त सृष्टि के प्रवाह

की नित्यताको स्वीकार कर त्रैत की ओर कदम बढ़ाया है । मानव गुणों का विकास, जीवन-संग्राम का नहीं, सहयोग का फल है । जीवन का रहस्य स्वार्थ नहीं, आत्म-त्याग है । यही मुक्ति का साधन है । आज तो मौलाना आज़ाद को भी यह मन्तव्य स्वीकार करना पड़ रहा है कि धर्म दलबन्दी से भिन्न कोई और वस्तु है । निजात का ज़रिया सत्कर्म हैं, गिरोह-बन्दी नहीं । तो क्या आत्म-त्याग या सत्कर्म जीवन-होड के साधक या साध्य हैं ?

अभी अजमेर से ऋषिदयानन्द का स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, उस के अन्त में इमदाद-हुसैन नामक किसी मुसलमान महानुभाव का लेख संकलित किया गया है । उस में लिखा है:—

> हम उन (ऋषिदयानन्द) के ऐसे श्रद्धालु थे कि उन की आज्ञानुसार कार्य करते और उस से लाभ उठाते।……… मुझे याद है कि वे बनारस से प्रस्थान करने से पहले मुझ को कुछ किये बिना नहीं गये । उन्होंने अनुरोध के साथ उपदेश किया कि इमदाद हुसैन ! जब तक तुम्हारी पचीस वर्ष तक की आयु न हो जाये, विवाह न करना । और शर्त यह है कि पचीस वर्ष तक के समय को सदाचार के साथ गुज़ारना । सो मैंने उस आज्ञा का पालन किया ।…………………मैंने निवेदन किया:—क्या महाराज ने घर गिरस्थी करली है ? (स्वामी जी ने) पूछा—तुमने किस आधार पर समझा कि मैं गृहस्थ हो गया हूं ? मैंने निवेदन किया कि आप सिर से पांव तक वस्त्र पहने हुए हैं………आगे तो आप एक लँगोट बाँधे रहते थे ।…………अब देखता हूं कि आप दुबले हो गये हैं ।
>
> सुन कर कुछ चुप से होगये । फिर कहा, मैं गृहस्थ नहीं हुआ । इमदाद-हुसैन ! तुम्हें उत्तर सुनकर दुःख होगा । मुझे तीन बार विष दिया गया है । मेरा शरीर निर्बल हो गया है, इस कारण इसकी रक्षा के लिये विवश हूं………एक बार तलवार से बच गया । मैंने विवश होकर पूछा:—यह कैसे ? आप ने किसी स्थान का नाम लिया जिसे मैं भूलता हूं । कहा— शौच के लिये मैं एक खुले स्थान पर गया था । वहां बैठा था । देखा

कि एक पुरुष नंगी तलवार लिये मेरी हत्या के लिये तैयार है। मैंने इशारे से उसे कहा—ठहर जा, मैं पानी लेकर शुद्ध हो लूं। उसने समय दिया और मैंने अपने आप को पवित्र किया। पवित्र होने के साथ ही मैंने उसके सामने सिर झुका दिया और कहा—लो, सिर काट लो। वह पुरुष चुप सा हो गया। मैंने देखा— उसका शरीर कांप रहा है।

विकासवादियों की दृष्टि में यह सिर की भेंट जीवन-संग्राम की अयोग्यता का चिन्ह है। ऐसे मनुष्य जीने के अधिकारी नहीं समझे जाने चाहियें। परन्तु मानव-समाज विकास-वादी नहीं है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में भी नेबुला से लेकर चन्द्र तक का विकास इसी लिये हुआ था कि इस सृष्टि के उत्तरोत्तर विकसित होते बुर्ज के शिखर पर दयानन्द, ईसा और गान्धी विराजें। यह दिव्य आवास इन देवताओं के रहने के लिये है। इन मानव देवताओं का प्रादुर्भाव स्वार्थ-मय संग्राम से नहीं, प्रेममग्न आत्मोत्सर्ग से होगा। मानवीय विकास का रहस्य है आत्मोत्सर्ग—दीप-मालिका के वे दिये जो ऋषि दयानन्द की उँगलियों से निर्मित होते हैं। आओ! इन उंगलियों के प्रकाश से हम प्रकाश—युक्त हों। हम भी जल जल कर प्रकाश-युक्त होना सीखें। नेबुला प्रकाश-युक्त है, सूर्य प्रकाश-युक्त है, पृथिवी और चन्द्रमा प्रकाश-युक्त हैं। ये किसी दिव्य दीपावलि के दिये हैं। आओ! हम दयानन्द की उँगलियों से निर्मित आत्म-त्याग की उस दिव्य दीपावलि के दिये बनें।